श्री जैन दिवाकर स्मृति-निबन्ध प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त

सदाचार के शाश्वत मानदण्ड और जैनधर्म

✡ डा० सागरमल जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०
[दर्शन विभाग, हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल]

सदाचार और दुराचार का अर्थ :

जब हम सदाचार के किसी शाश्वत मानदण्ड को जानना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि सदाचार का तात्पर्य क्या है और किसे हम सदाचार कहते हैं ? शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से सदाचार शब्द सत्+आचार इन दो शब्दों से मिलकर बना है, अर्थात् जो आचरण सत् (Right) या उचित है वह सदाचार है। लेकिन फिर भी यह प्रश्न बना रहता है कि सत् या उचित आचरण क्या है ? यद्यपि हम आचरण के कुछ प्रारूपों को सदाचार और कुछ प्रारूपों को दुराचार कहते हैं किन्तु मूल प्रश्न यह है कि वह कौन-सा तत्त्व है जो किसी आचरण को सदाचार या दुराचार बना देता है। हम अक्सर यह कहते हैं कि झूठ बोलना, चोरी करना, हिंसा करना, व्यभिचार करना आदि दुराचार हैं और करुणा, दया, सहानुभूति, ईमानदारी, सत्यवादिता, आदि सदाचार हैं; किन्तु वह आधार कौन-सा है, जो प्रथम प्रकार के आचरणों को दुराचार और दूसरे प्रकार के आचरणों को सदाचार बना देता है। चोरी या हिंसा क्यों दुराचार है और ईमानदारी या सत्यवादिता क्यों सदाचार हैं ? यदि हम सत् या उचित के अँग्रेजी पर्याय राईट (Right) पर विचार करते हैं तो Right शब्द लेटिन शब्द Rectus से बना है, जिसका अर्थ होता है नियमानुसार; अर्थात् जो आचरण नियमानुसार है, वह सदाचार है और जो नियमविरुद्ध है, वह दुराचार है। यहाँ नियम से तात्पर्य सामाजिक एवं धार्मिक नियमों या परम्पराओं से है। भारतीय परम्परा में भी सदाचार शब्द की ऐसी ही व्याख्या मनुस्मृति में उपलब्ध होती है, मनु लिखते हैं—

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

अर्थात् जिस देश, काल और समाज में जो आचरण परम्परा से चला आता है वही सदाचार कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो परम्परागत आचार के नियम हैं, उनका पालन करना ही सदाचार है। दूसरे शब्दों में जिस देश, काल और समाज में आचरण की जो परम्पराएँ स्वीकृत रही हैं, उन्हीं के अनुसार आचरण सदाचार कहा जावेगा। किन्तु यह दृष्टिकोण समुचित प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः कोई भी आचरण किसी देश, काल और समाज में आचरित एवं अनुमोदित होने से सदाचार नहीं बन जाता।

कोई आचरण केवल इसलिए सत् या उचित नहीं होता है कि वह किसी समाज में स्वीकृत होता रहा है, अपितु वास्तविकता तो यह है कि इसलिए स्वीकृत होता रहा है क्योंकि वह सत् है। किसी आचरण का सत् या असत् होना अथवा सदाचार या दुराचार होना स्वयं उसके स्वरूप पर निर्भर होता है न कि उसके आचरित अथवा अनाचरित होने पर। महाभारत में दुर्योधन ने कहा था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानामि अधर्मं न च मे निवृत्तिः ॥

अर्थात् मैं धर्म को जानता हूँ किन्तु उस ओर प्रवृत्त नहीं होता, उसका आचरण नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं अधर्म को भी जानता हूँ परन्तु उससे निवृत्त नहीं होता हूँ। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि किसी आचरण का सदाचार या दुराचार होना इस बात पर निर्भर नहीं है कि वह किसी वर्ग या समाज द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत होता रहा है। सदाचार और दुराचार की मूल्य-वत्ता उनके परिणामों पर या उस साध्य पर निर्भर होती है, जिसके लिए उनका आचरण किया जाता है। आचरण की मूल्यवत्ता, स्वयं आचरण पर ही नहीं; अपितु उसके साध्य या परिणाम पर निर्भर होती है। किसी आचरण की मूल्यवत्ता का निर्धारण उसके समाज पर पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर भी किया जाता है, फिर भी उसकी मूल्यवत्ता का अन्तिम आधार तो कोई आदर्श या साध्य ही होता है। अतः जब हम सदाचार के मानदण्ड की बात करते हैं तो हमें उस परम मूल्य या साध्य पर ही विचार करना होगा जिसके आधार पर किसी कर्म को सदाचार या दुराचार की कोटि में रखा जाता है। वस्तुतः मानव-जीवन का परम साध्य ही वह तत्व है, जो सदाचार का मानदण्ड या कसौटी बनता है। पाश्चात्य आचार दर्शनों में सदाचार और दुराचार के जो मान-दण्ड स्वीकृत रहे हैं उन्हें मोटे-मोटे रूप से दो भागों में बाँटा जाता है—१. नियमवादी और २. साध्यवादी। नियमवादी परम्परा सदाचार और दुराचार का मानदण्ड सामाजिक अथवा धार्मिक नियमों को मानती है, जबकि साध्यवादी परम्परा सुख अथवा आत्म-पूर्णता को ही सदाचार और दुराचार की कसौटी मानती है।

पाश्चात्य नीतिशास्त्र में सदाचार के मानदण्ड के सिद्धान्त

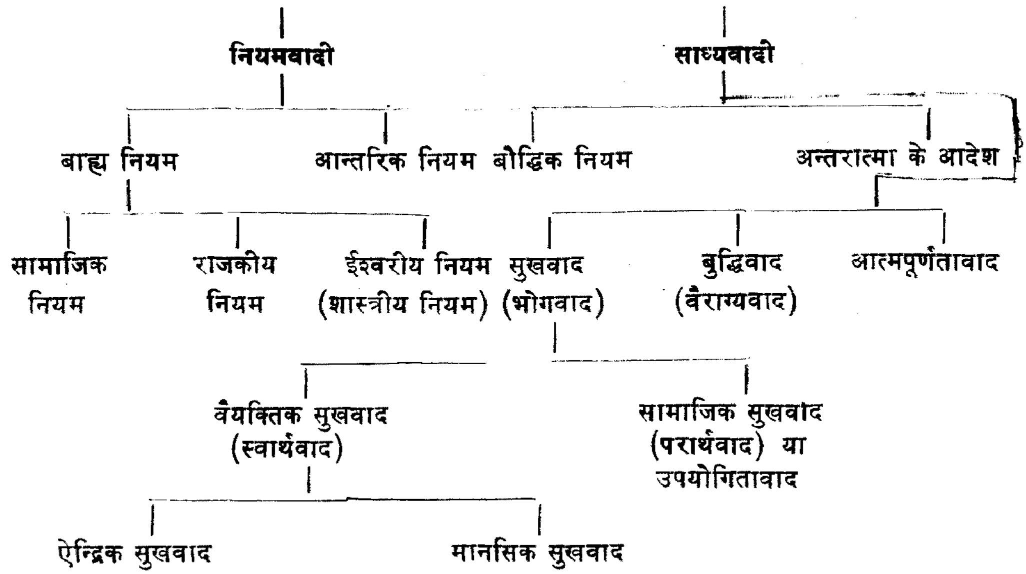

जैन-दर्शन में सदाचार का मापदण्ड

अब मूल प्रश्न यह है कि वह परम मूल्य या चरम साध्य क्या है? जैन-दर्शन मानव के चरम साध्य के बारे में स्पष्ट है। उसके अनुसार व्यक्ति का चरम साध्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है। वह यह मानता है कि जो आचरण निर्वाण या मोक्ष की दिशा में ले जाता है, वही सदाचार की कोटि में आता है। दूसरे शब्दों में जो आचरण मुक्ति का कारण है वह सदाचार है और जो आचरण बन्धन का कारण है, वह दुराचार है। किन्तु यहाँ पर हमें यह भी स्पष्ट करना होगा कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका मोक्ष अथवा निर्वाण से क्या तात्पर्य है ? जैनधर्म के अनुसार निर्वाण या मोक्ष स्वभाव-दशा एवं आत्मपूर्णता की प्राप्ति है। वस्तुतः हमारा जो निज स्वरूप है उसे प्राप्त कर लेना अथवा हमारी बीजरूप क्षमताओं को विकसित कर आत्मपूर्णता की प्राप्ति ही मोक्ष है। उसकी पारम्परिक शब्दावली में परभाव से हटकर स्वभाव में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। यही कारण था कि जैन-दार्शनिकों ने धर्म की एक विलक्षण एवं महत्वपूर्ण परिभाषा दी है। उनके अनुसार धर्म वह है जो वस्तु का निज स्वभाव है (**वत्थुसहावो धम्मो**)। व्यक्ति का धर्म या साध्य वही हो सकता है जो उसकी चेतना या आत्मा का निज स्वभाव है और जो हमारा निज स्वभाव है उसी को पा लेना ही मुक्ति है। अतः उस स्वभाव दशा की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचरण कहा जा सकता है।

पुनः प्रश्न यह उठता है कि हमारा स्वभाव क्या है ? भगवती सूत्र में गौतम ने भगवान महावीर के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित किया था। वे पूछते हैं—हे भगवन् ! आत्मा का निज स्वरूप क्या है और आत्मा का साध्य क्या है ? महावीर ने उनके इन प्रश्नों का जो उत्तर दिया था, वह आज भी समस्त जैन आचार-दर्शन में किसी कर्म के नैतिक मूल्यांकन का आधार है। महावीर ने कहा था—आत्मा समत्व स्वरूप है और उस समत्व स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है। दूसरे शब्दों में समता या समभाव स्वभाव है और विषमता विभाव है और जो विभाव से स्वभाव की दिशा में अथवा विषमता से समता की दिशा में ले जाता है वही धर्म है, नैतिकता है, सदाचार है। अर्थात् विषमता से समता की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचार है। संक्षेप में जैनधर्म के अनुसार सदाचार या दुराचार का शाश्वत मानदण्ड समता एवं विषमता अथवा स्वभाव एवं विभाव है। स्वभाव दशा से फलित होने वाला आचरण सदाचार है और विभाव-दशा या पर-भाव से फलित होने वाला आचरण दुराचार है।

यहाँ हमें समता के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से समता का अर्थ परभाव से हटकर शुद्ध स्वभाव दशा में स्थित हो जाना है किन्तु अपनी विविध अभिव्यक्तियों की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों में इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से समता या समभाव का अर्थ राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागता या अनासक्त भाव की उपलब्धि है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक समत्व का अर्थ है समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं से रहित मन की शान्त एवं विक्षोभ (तनाव) रहित अवस्था। यही समत्व जब हमारे सामुदायिक या सामाजिक जीवन में फलित होता है तो इसे हम अहिंसा के नाम से अभिहित करते हैं। वैचारिक दृष्टि से इसे हम अनाग्रह या अनेकान्त दृष्टि कहते हैं। जब हम इसी समत्व के आर्थिक पक्ष पर विचार करते हैं तो अपरिग्रह के नाम से पुकारते हैं—साम्यवाद एवं न्यासी सिद्धान्त इसी अपरिग्रह-वृत्ति की आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह समत्व ही मानसिक क्षेत्र में अनासक्ति या वीतरागता के रूप में, सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के रूप में, वैचारिकता के क्षेत्र से अनाग्रह या अनेकान्त के रूप में और आर्थिक क्षेत्र में अपरिग्रह के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः समत्व को निर्विवाद रूप से सदाचार का मानदण्ड स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु 'समत्व' को सदाचार का मानदण्ड स्वीकार करते हुए भी हमें उसके विविध पहलुओं पर विचार तो करना ही होगा क्योंकि सदाचार का सम्बन्ध अपने साध्य के साथ-साथ उन साधनों से भी होता है जिसके द्वारा हम उसे पाना चाहते हैं और जिस रूप में वह हमारे व्यवहार में और सामुदायिक जीवन में प्रकट होता है।

जहाँ तक व्यक्ति के चैत्तसिक या आन्तरिक समत्व का प्रश्न है हम उसे वीतराग मनोदशा या अनासक्त चित्तवृत्ति की साधना मान सकते हैं। फिर भी समत्व की साधना का यह रूप हमारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयक्तिक एवं आन्तरिक जीवन से अधिक सम्बन्धित है। वह व्यक्ति की मनोदशा का परिचायक है। यह ठीक है कि व्यक्ति की मनोदशा का प्रभाव उसके आचरण पर भी होता है और हम व्यक्ति के आचरण का मूल्यांकन करते समय उसके इस आन्तरिक पक्ष पर विचार भी करते हैं किन्तु फिर भी सदाचार या दुराचार का यह प्रश्न हमारे व्यवहार के बाह्य पक्ष एवं सामुदायिकता के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। जब भी हम सदाचार एवं दुराचार के किसी मानदण्ड की बात करते हैं तो हमारी दृष्टि व्यक्ति के आचरण के बाह्य पक्ष पर अथवा उस आचरण का दूसरों पर क्या प्रभाव या परिणाम होता है, इस बात पर अधिक होती है। सदाचार या दुराचार का प्रश्न केवल कर्ता के आन्तरिक मनोभावों या वैयक्तिक जीवन से तो सम्बन्धित नहीं है, वह आचरण के बाह्य प्रारूप तथा हमारे सामाजिक जीवन में उस आचरण के परिणामों पर भी विचार करता है। यहाँ हमें सदाचार और दुराचार की व्याख्या के लिए कोई ऐसी कसौटी खोजनी होगी जो आचार के बाह्य पक्ष अथवा हमारे व्यवहार के सामाजिक पक्ष को भी अपने में समेट सके। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में इस सम्बन्ध में एक सर्वमान्य दृष्टिकोण यह है कि परोपकार ही पुण्य है और पर-पीड़ा ही पाप है। तुलसीदास ने इसे निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

'परहित सरिस धरम नहीं भाई। पर-पीड़ा सम नहीं अधमाई ॥'

अर्थात् वह आचरण जो दूसरों के लिए कल्याणकारी या हितकारी है सदाचार है, पुण्य है और जो दूसरों के लिए अकल्याणकर है, अहितकर है, पाप है, दुराचार है। जैनधर्म में सदाचार के एक ऐसे ही शाश्वत मानदण्ड की चर्चा हमें आचारांग सूत्र में उपलब्ध होती है। वहाँ कहा गया है—'भूतकाल में जितने अर्हंत हो गये हैं, वर्तमान काल में जितने अर्हंत हैं और भविष्य में जितने अर्हंत होंगे वे सभी यह उपदेश करते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्वों को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध नित्य और शाश्वत धर्म है।' किन्तु मात्र दूसरे की हिंसा नहीं करने के रूप में अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष का या दूसरों के हित-साधन को ही सदाचार की कसौटी नहीं माना जा सकता है। ऐसी अवस्थाएँ सम्भव हैं कि जबकि मेरे असत्य सम्भाषण एवं अनैतिक आचरण के द्वारा दूसरों का हित-साधन होता हो, अथवा कम से कम किसी का अहित न होता हो, किन्तु क्या हम ऐसे आचरण को सदाचार कहने का साहस कर सकेंगे। क्या वेश्यावृत्ति के माध्यम से अपार धनराशि को एकत्र कर उसे लोकहित के लिए व्यय करने मात्र से कोई स्त्री सदाचारी की कोटि में आ सकेगी ? क्या यौन-वासना की संतुष्टि के वे रूप जिसमें किसी भी दूसरे प्राणी की प्रकट में हिंसा नहीं होती है, दुराचार की कोटि में नहीं आवेंगे ? सूत्रकृतांग में सदाचारिता का एक ऐसा ही दावा अन्य तीर्थिकों द्वारा प्रस्तुत भी किया गया था, जिसे भ० महावीर ने अमान्य कर दिया था। क्या हम उस व्यक्ति को, जो डाके डालकर उस सम्पत्ति को गरीबों में वितरित कर देता है, सदाचारी मान सकेंगे ? एक चोर और एक सन्त दोनों ही व्यक्ति को सम्पत्ति के पाश से मुक्त करते हैं फिर भी दोनों समान कोटि के नहीं माने जाते। वस्तुतः सदाचार या दुराचार का निर्णय केवल एक ही आधार पर नहीं होता है। उसमें आचरण का प्रेरक आन्तरिक पक्ष अर्थात् कर्ता की मनोदशा और आचरण का बाह्य परिणाम अर्थात् सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव दोनों ही विचारणीय हैं। आचार की शुभाशुभता विचार पर और विचार या मनोभावों की शुभाशुभता स्वयं व्यवहार पर निर्भर करती है। सदाचार या दुराचार का मानदण्ड तो ऐसा होना चाहिए जो इन दोनों को समाविष्ट कर सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधारणतया जैनधर्म सदाचार का शाश्वत मानदण्ड अहिंसा को स्वीकार करता है, किन्तु यहाँ हमें यह विचार करना होगा कि क्या केवल किसी को दुःख या पीड़ा नहीं देना या किसी की हत्या नहीं करना, मात्र यही अहिंसा है। यदि अहिंसा की मात्र इतनी ही व्याख्या है, तो फिर वह सदाचार और दुराचार का मानदण्ड नहीं बन सकती; यद्यपि जैन आचार्यों ने सदैव ही उसे सदाचार का एकमात्र आधार प्रस्तुत किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि अनृतवचन, स्तेय मैथुन, परिग्रह आदि पापों के जो भिन्न-भिन्न नाम दिये गये वे तो केवल शिष्य-बोध के लिए हैं, मूलतः तो वे सब हिंसा ही है (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)। वस्तुतः जैन आचार्यों ने अहिंसा को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचारा है। वह आन्तरिक भी है और बाह्य भी। उसका सम्बन्ध व्यक्ति से भी है और समाज से भी। हिंसा को जैन-परम्परा में स्व की हिंसा और पर की हिंसा ऐसे दो भागों में बाँटा गया है। जब वह हमारे स्व-स्वरूप या स्वभाव दशा का घात करती है तो स्व-हिंसा है और जब दूसरों के हितों को चोट पहुँचाती है, तो वह पर की हिंसा है। स्व की हिंसा के रूप में वह आन्तरिक पाप है, तो पर की हिंसा के रूप में वह सामाजिक पाप। किन्तु उसके ये दोनों रूप दुराचार की कोटि में ही आते हैं। अपने इस व्यापक अर्थ में हिंसा को दुराचार की और अहिंसा को सदाचार की कसौटी माना जा सकता है।

सदाचार के शाश्वत मानदण्ड की समस्या

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सदाचार का कोई शाश्वत मानदण्ड हो सकता है। वस्तुतः सदाचार और दुराचार के मानदण्ड का निश्चय कर लेना इतना सहज नहीं है। यह सम्भव है कि जो आचरण किसी परिस्थिति विशेष में सदाचार कहा जाता है, वही दूसरी परिस्थिति में दुराचार बन जाता है और जो सामान्यतया दुराचार कहे जाते हैं वे किसी परिस्थिति विशेष सदाचार हो जाते हैं। शील रक्षा हेतु की जाने वाली आत्महत्या सदाचार की कोटि में आ जाती है जबकि सामान्य स्थिति में वह अनैतिक (दुराचार) मानी जाती है। जैन आचार्यों का तो यह स्पष्ट उद्घोष है—**'जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा'** अर्थात् आचार के जो प्रारूप सामान्यतया बन्धन के कारण हैं, वे ही परिस्थिति विशेष में मुक्ति के साधन बन जाते हैं और इसी प्रकार सामान्य स्थिति में जो मुक्ति के साधन हैं, वे ही किसी परिस्थिति विशेष में बन्धन के कारण बन जाते हैं। प्रशमरति प्रकरण में उमास्वाति का कथन है—

देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघात, शुद्ध परिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकांतात्कल्प्यते कल्प्यम्॥

अर्थात् एकान्त रूप से न तो कोई कर्म आचरणीय होता है और न एकान्त रूप से अनाचरणीय होता है, वस्तुतः किसी कर्म की आचरणीयता और अनाचरणीयता देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति और मनःस्थिति पर निर्भर होती है। महाभारत में भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया गया है, उसमें लिखा है—

स एव धर्मः सोऽधर्मो देश काले प्रतिष्ठितः।
आदानमनृतं हिंसा धर्मोह्यवस्थिकस्मृतः॥

—महाभारत शान्तिपर्व ६३।११

अर्थात् जो किसी देश और काल में धर्म (सदाचार) कहा जाता है, वही किसी दूसरे देश और काल में अधर्म (दुराचार) बन जाता है और जो हिंसा, झूठ, चौर्यकर्म आदि सामान्य अवस्था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अधर्म (दुराचार) कहे जाते हैं, वही किसी परिस्थिति विशेष में धर्म बन जाते हैं। वस्तुतः कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित हो जाती हैं, जब सदाचार, दुराचार की कोटि में और दुराचार, सदाचार की कोटि में होता है। द्रौपदी का पाँचों पांडवों के साथ जो पति-पत्नी का सम्बन्ध था फिर भी उसकी गणना सदाचारी सती स्त्रियों में की जाती है; जबकि वर्तमान समाज में इस प्रकार का आचरण दुराचार ही कहा जावेगा। किन्तु क्या इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सदाचार-दुराचार का कोई शाश्वत मानदण्ड नहीं हो सकता है। वस्तुतः सदाचार या दुराचार के किसी मानदण्ड का एकान्त रूप से निश्चय कर पाना कठिन है। जो बाहर नैतिक दिखाई देता है, वह भीतर से अनैतिक हो सकता है और जो बाहर से अनैतिक दिखाई देता है, वह भीतर से नैतिक हो सकता है। एक ओर तो व्यक्ति की आन्तरिक मनोवृत्तियाँ और दूसरी ओर जागतिक परिस्थितियाँ किसी कर्म की नैतिक मूल्यवत्ता को प्रभावित करती रहती हैं। अतः इस सम्बन्ध में कोई एकान्त नियम कार्य नहीं करता है। हमें उन सब पहलुओं पर भी ध्यान देना होता है जो कि किसी कर्म की नैतिक मूल्यवत्ता को प्रभावित कर सकते हैं। जैन विचारकों ने सदाचार या नैतिकता के परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों पक्षों पर विचार किया है।

सदाचार के मानदण्ड की परिवर्तनशीलता का प्रश्न

वस्तुतः सदाचार के मानदण्डों में परिवर्तन देशिक और कालिक आवश्यकता के अनुरूप होता है। महाभारत में कहा गया है कि—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युग ह्रासानुरूपतः॥

—शान्ति पर्व २५६।८

युग के ह्रास के अनुरूप सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के धर्म अलग-अलग होते हैं। यह परिस्थितियों के परिवर्तन से होने वाला मूल्य परिवर्तन एक प्रकार का सापेक्षिक परिवर्तन ही होगा। यह सही है कि मनुष्य को जिस विश्व में जीवन जीना होता है वह परिस्थिति निरपेक्ष नहीं है। देशिक एवं कालिक परिस्थितियों के परिवर्तन हमारी सदाचार सम्बन्धी धारणाओं को प्रभावित करते हैं। देशिक और कालिक परिवर्तन के कारण यह सम्भव है कि जो कर्म एक देश और काल में विहित हों, वही दूसरे देश और काल में अविहित हो जावें। अष्टक प्रकरण में कहा गया है—

उत्पद्यते ही साऽवस्था देशकालाभयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत॥

—अष्टक प्रकरण २७-५ टीका

देशिक और कालिक स्थितियों के परिवर्तन से ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसमें कार्य अकार्य की कोटि में और अकार्य कार्य की कोटि में आ जाता है, किन्तु यह अवस्था सामान्य अवस्था नहीं, अपितु कोई विशिष्ट अवस्था होती है, जिसे हम आपवादिक अवस्था के रूप में जानते हैं, किन्तु आपवादिक स्थिति में होने वाला यह परिवर्तन सामान्य स्थिति में होने वाले मूल्य परिवर्तन से भिन्न स्वरूप का होता है। उसे वस्तुतः मूल्य परिवर्तन कहना भी कठिन है। इसमें जिन मूल्यों का परिवर्तन होता है, वे मुख्यतः साधन मूल्य होते हैं। क्योंकि साधन मूल्य आचरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सम्बन्धित होते हैं और आचरण परिस्थिति निरपेक्ष नहीं हो सकता अतः उसमें परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार साधनपरक आचरण के नैतिक मानदण्ड परिवर्तित होते रहते हैं।

दूसरे, व्यक्ति को समाज में जीवन जीना होता है और समाज परिस्थिति निरपेक्ष नहीं होता है अतः सामाजिक नैतिकता अपरिवर्तनीय नहीं कही जा सकती, उसमें देशकालगत परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है किन्तु उसकी यह परिवर्तनशीलता भी देशकाल सापेक्ष ही होती है। वस्तुतः किसी परिस्थिति में किसी एक साध्य का नैतिक मूल्य इतना प्रधान हो जाता है कि उसकी सिद्धि के लिए किसी दूसरे नैतिक मूल्य का निषेध आवश्यक हो जाता है जैसे अन्याय के प्रतिकार के लिए हिंसा। किन्तु यह निषेध परिस्थिति विशेष तक ही सीमित रहता है। उस परिस्थिति के सामान्य होने पर धर्म पुनः धर्म बन जाता है और अधर्म, अधर्म बन जाता है। वस्तुतः आपवादिक अवस्था में कोई एक मूल्य इतना प्रधान प्रतीत होता है कि उसकी उपलब्धि के लिए हम अन्य मूल्यों की उपेक्षा कर देते हैं अथवा कभी-कभी सामान्य रूप से स्वीकृत उसी मूल्य के विरोधी तथ्य को हम उसका साधन बना लेते हैं। उदाहरण के लिए जब हमें जीवन रक्षण ही एकमात्र मूल्य प्रतीत होता है तो उस अवस्था में हम हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी आदि को अनैतिक नहीं मानते हैं। इस प्रकार अपवाद की अवस्था में एक मूल्य साध्य स्थान पर चला जाता है और अपने साधनों को मूल्यवत्ता प्रदान करता प्रतीत होता है, किन्तु यह मूल्य भ्रम ही है, उस समय भी चोरी या हिंसा मूल्य नहीं बन जाते हैं क्योंकि उनका स्वतः कोई मूल्य नहीं है, वे तो उस साध्य की मूल्यवत्ता के कारण मूल्य के रूप में प्रतीत या आभासित होते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अहिंसा के स्थान पर हिंसा या सत्य के स्थान पर असत्य नैतिक मूल्य बन जाते हैं। साधुजन की रक्षा के लिए दुष्टजन की हिंसा की जा सकती है किन्तु इससे हिंसा मूल्य नहीं बन जाती है। किसी प्रत्यय की नैतिक मूल्यवत्ता उसके किसी परिस्थिति विशेष में आचरित होने या नहीं होने से अप्रभावित भी रह सकती है। प्रथम तो यह कि अपवाद की मूल्यवत्ता केवल उस परिस्थिति विशेष में ही होती है, उसके आधार पर सदाचार का कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। साथ ही जब व्यक्ति आपद्धर्म का आचरण करता है तब भी उसकी दृष्टि में मूल नैतिक नियम या सदाचार की मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है। यह तो परिस्थितिगत या व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण उसे वह आचरण करना पड़ रहा है। दूसरे सार्वभौम नियम में और अपवाद में अन्तर है। अपवाद की यदि कोई मूल्यवत्ता है, तो वह केवल विशिष्ट परिस्थिति में ही रहती है, जबकि सामान्य नियम की मूल्यवत्ता सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन होती है। अतः आपद्धर्म या अपवाद मार्ग की स्वीकृति जैनधर्म में मूल्य परिवर्तन की सूचक नहीं है। वह सामान्यतया किसी मूल्य को न तो निर्मूल्य करती है और न मूल्य संस्थान में उसे अपने स्थान से पदच्युत ही करती है, अतः वह मूल्यान्तरण भी नहीं है।

नैतिक कर्म के दो पक्ष होते हैं—एक बाह्यपक्ष, जो आचरण के रूप में होता है और दूसरा आन्तरिक पक्ष, जो कर्ता के मनोभावों के रूप में होता है। अपवादमार्ग का सम्बन्ध केवल बाह्य पक्ष से होता है, अतः उससे किसी नैतिक मूल्य की मूल्यवत्ता प्रभावित नहीं होती है। कर्म का मात्र बाह्य पक्ष उसे कोई नैतिक मूल्य प्रदान नहीं करता है।

सदाचार के मानदण्डों की परिवर्तनशीलता का अर्थ

सदाचार के मानदण्डों की परिवर्तनशीलता पर विचार करते समय सबसे पहले हमें यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चित कर लेना होगा कि उनकी परिवर्तनशीलता से हमारा क्या तात्पर्य है ? कुछ लोग परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति से लेते हैं। आज जब पाश्चात्य विचारकों के द्वारा नैतिक मूल्यों को सांवेगिक अभिव्यक्ति या वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन एवं रुचि का पर्याय माना जा रहा हो, तब परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं उनकी मूल्यवत्ता को नकारना ही होगा। आज सदाचार की मूल्यवत्ता स्वयं अपने अर्थ की तलाश कर रही है। यदि सदाचार की धारणा अर्थहीन है, मात्र सामाजिक अनुमोदन है, तो फिर उसकी परिवर्तनशीलता का भी कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता है क्योंकि यदि सदाचार के मूल्यों का यथार्थ एवं वस्तुगत अस्तित्व ही नहीं है, यदि वे मात्र मनोकल्पनाएँ हैं तो उनके परिवर्तन का ठोस आधार भी नहीं होगा ? दूसरे, जब हम सदाचार-दुराचार, शुभ-अशुभ अथवा औचित्य-अनौचित्य के प्रत्ययों को वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन या पसन्दगी किंवा नापसन्दगी के रूप में देखते हैं तो उनकी परिवर्तनशीलता का अर्थ फैशन की परिवर्तनशीलता से अधिक नहीं रह जावेगा।

किन्तु क्या सदाचार की मूल्यवत्ता पर ही कोई प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है ? क्या नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता फैशनों की परिवर्तनशीलता के समान है, जिन्हें जब चाहे तब और जैसा चाहे वैसा बदला जा सकता है। आयें जरा इन प्रश्नों पर थोड़ी गम्भीर चर्चा करें।

सर्वप्रथम तो आज जिस परिवर्तनशीलता की बात कही जा रही है, उससे तो स्वयं सदाचार के मूल्य होने में ही अनास्था उत्पन्न हो गई है। आज का मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओं की पूर्ति के लिए विवेक एवं संयम की नियामक मर्यादाओं की अवहेलना को ही मूल्य परिवर्तन मान रहा है। वर्षों के चिन्तन और साधना से फलित ये मर्यादाएँ आज उसे कारा लग रही है और इन्हें तोड़ फेंकने में ही उसे मूल्य-क्रान्ति परिलक्षित हो रही है। स्वतन्त्रता के नाम पर वह अतंत्रता और अराजकता को ही मूल्य मान बैठा है, किन्तु यह सब मूल्य विभ्रम या मूल्य विपर्यय ही है जिसके कारण नैतिक मूल्यों के निर्मूल्यीकरण को ही परिवर्तन कहा जा रहा है। किन्तु हमें यह समझ लेना होगा कि मूल्य-संक्रमण या मूल्यान्तरण मूल्य-निषेध नहीं है। परिवर्तनशीलता का तात्पर्य स्वयं नीति के मूल्य होने में अनास्था नहीं है। यह सत्य है कि नैतिक मूल्यों में और नीति सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन हुए हैं और होते रहेंगे, किन्तु मानव इतिहास में कोई भी काल ऐसा नहीं है, जब स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार किया गया हो। वस्तुतः नैतिक मूल्यों या सदाचार के मानदण्डों की परिवर्तनशीलता में भी कुछ ऐसा अवश्य है, जो बना रहता है और वह है, स्वयं उनकी मूल्यवत्ता। नैतिक मूल्यों का विषय वस्तु बदलती रहती है, किन्तु उनका मूल आधार बना रहता है। मात्र इतना ही नहीं, कुछ मूल्य ऐसे भी हैं, जो अपनी मूल्यवत्ता को नहीं खोते हैं, मात्र उनकी व्याख्या के सन्दर्भ एवं अर्थ बदलते हैं।

आज स्वयं सदाचार या नैतिकता की मूल्यवत्ता के निषेध की बात दो दिशाओं से खड़ी हुई है एक ओर भौतिकवादी और साम्यवादी दर्शनों के द्वारा और दूसरी ओर पाश्चात्य अर्थ विश्लेषणवादियों के द्वारा। यह कहा जाता है कि वर्तमान में साम्यवादी-दर्शन नीति की मूल्यवत्ता को अस्वीकार करता है, किन्तु इस सम्बन्ध में स्वयं लेनिन का वक्तव्य दृष्टव्य है। वे कहते हैं—'प्रायः यह कहा जाता है कि हमारा अपना कोई नीति-शास्त्र नहीं है, बहुधा मध्य वित्तीय वर्ग कहता है कि हम सब प्रकार के नीति-शास्त्र का खण्डन करते हैं, किन्तु उनका यह तरीका विचारों का भ्रष्ट करना है, श्रमिकों और कृषकों की आँख में धूल झोंकना है। हम उसका खण्डन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं जो ईश्वरीय आदेशों से नीति-शास्त्र को आविर्भूत करता है। हम कहते हैं कि यह धोखा-धड़ी है और श्रमिकों तथा कृषकों के मस्तिष्कों को पूँजीपतियों तथा भू-पतियों के स्वार्थ के लिए सन्देह में डालता है। हम कहते हैं कि हमारा नीति-शास्त्र सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष के हितों के अधीन है, जो शोषक समाज को नष्ट करे, जो श्रमिकों को संगठित करे और साम्यवादी समाज की स्थापना करे, वही नीति है (शेष सब अनीति है)।' इस प्रकार साम्यवादी दर्शन नैतिक मूल्यों का मूल्यान्तरण तो करता है, किन्तु स्वयं नीति की मूल्यवत्ता का निषेध नहीं करता है। वह उस नीति का समर्थक है जो अन्याय एवं शोषण की विरोधी है और सामाजिक समता की संस्थापक है, जो पीड़ित और शोषित को अपना अधिकार दिलाती है और सामाजिक न्याय की स्थापना करती है। वह सामाजिक न्याय और आर्थिक समता की स्थापना को ही सदाचार मानदण्ड स्वीकार करती है। अतः वह सदाचार और दुराचार की धारणा को अस्वीकार नहीं करती है।

वह भौतिकवादी दर्शन, जो सामाजिक एवं साहचर्य के मूल्यों का समर्थक है, नीति की मूल्यवत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। यदि हम मनुष्य को एक विवेकवान सामाजिक प्राणी मानते हैं, तो हमें नैतिक मूल्यों को अवश्य स्वीकार करना होगा। वस्तुतः नीति का अर्थ है किन्हीं विवेकपूर्ण साध्यों की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में आचार और व्यवहार के किन्हीं ऐसे आदर्शों एवं मर्यादाओं की स्वीकृति, जिसके अभाव में मानव की मानवता और मानवीय समाज का अस्तित्व ही खतरे में होगा, यदि नीति की मूल्यवत्ता का या सदाचार की धारणा का निषेध कोई दृष्टि कर सकती है तो वह मात्र पाशविक भोगवादी दृष्टि है, किन्तु यह दृष्टि मनुष्य को एक पशु से अधिक नहीं मानती है। यह सत्य है कि यदि मनुष्य मात्र पशु है तो नीति का, सदाचार का कोई अर्थ नहीं है, किन्तु क्या आज मनुष्य का अवमूल्यन पशु के स्तर पर किया जा सकता है? क्या मनुष्य निरा पशु है? यदि मनुष्य निरा पशु होता है तो वह पूरी तरह प्राकृतिक नियमों से शासित होता और निश्चय ही उसके लिए सदाचार की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आज का मनुष्य पूर्णतः प्राकृतिक नियमों से शासित नहीं है वह तो प्राकृतिक नियमों एवं मर्यादाओं की अवहेलना करता है। अतः पशु भी नहीं है। उसकी सामाजिकता भी उसके स्वभाव से निसृत नहीं है, जैसी कि यूथचारी प्राणियों में होती है। उसकी सामाजिकता उसके बुद्धि तत्त्व का प्रतिफल है, वह विचार की देन है, स्वभाव की नहीं। यही कारण है कि वह समाज का और सामाजिक मर्यादाओं का सर्जक भी है और संहारक भी है, वह उन्हें स्वीकार भी करता है और उनकी अवहेलना भी करता है, अतः वह समाज से ऊपर भी है। ब्रेडले का कथन है कि यदि मनुष्य सामाजिक नहीं है तो वह मनुष्य ही नहीं है, किन्तु यदि वह केवल सामाजिक है तो वह पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता उसके अति सामाजिक एवं नैतिक प्राणी होने में है। अतः मनुष्य के लिए सदाचार की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति असम्भव है। यदि हम परिवर्तन-शीलता के नाम पर स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार करेंगे तो वह मानवीय संस्कृति का ही अवमूल्यन होगा। मात्र अवमूल्यन ही नहीं, उसकी इतिश्री भी होगी।

पुनश्च सदाचार की धारणाओं को संवेगिक अभिव्यक्ति या रुचि सापेक्ष मानने पर भी, न तो सदाचार की मूल्यवत्ता को निरस्त किया जा सकता है और न सदाचार एवं दुराचार के मानदण्डों को फैशनों के समान परिवर्तनशील माना जा सकता है। यदि सदाचार और दुराचार का आधार पसन्दगी या रुचि है तो फिर पसन्दगी या नापसन्दगी के भावों की उत्पत्ति का आधार क्या है? क्यों हम चौर्य कर्म को नापसन्द करते हैं और क्यों ईमानदारी को पसन्द करते हैं? सदाचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं दुराचार की व्याख्या मात्र पसन्दगी और नापसन्दगी के रूप में नहीं की जा सकती। मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी अथवा रुचि केवल मन की मौज या मन की तरंग (whim) पर निर्भर नहीं है। इन्हें पूरी तरह आत्मनिष्ठ (Subjective) नहीं माना जा सकता, इनके पीछे एक वस्तुनिष्ठ आधार भी होता है। आज हमें उन आधारों का अन्वेषण करना होगा, जो हमारी पसन्दगी और नापसन्दगी को बनाते या प्रभावित करते हैं। वे कुछ आदर्श, सिद्धान्त, दृष्टियाँ या मूल्य-बोध हैं, जो हमारी पसन्दगी या नापसन्दगी को बनाते हैं और जिनके आधार पर हमारी रुचियाँ सृजित होती हैं। मानवीय रुचियाँ और मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी आकस्मिक एवं प्राकृतिक (Natural) नहीं है। जो तत्त्व इनको बनाते हैं, उनमें नैतिक मूल्य या सदाचार की अवधारणाएँ भी हैं। ये पूर्णतया व्यक्ति और समाज की रचना भी नहीं है, अपितु व्यक्ति के मूल्य संस्थान के बोध से भी उत्पन्न होती हैं। वस्तुतः मूल्यों की सत्ता अनुभव की पूर्ववर्ती है, मनुष्य मूल्यों का द्रष्टा है, सृजक नहीं। अतः पसन्दगी की इस धारणा के आधार पर स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता को निरस्त नहीं किया जा सकता है। दूसरे यदि हम औचित्य एवं अनौचित्य या सदाचार-दुराचार का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानते हैं, तो यह भी ठीक नहीं है। मेरे व्यक्तिगत स्वार्थों से सामाजिक हित क्यों श्रेष्ठ एवं वरेण्य हैं? इस प्रश्न का हमारे पास क्या उत्तर होगा? सामाजिक हितों की वरेण्यता का उत्तर सदाचार के किसी शाश्वत मानदण्ड को स्वीकार किये बिना नहीं दिया जा सकता है। इस प्रकार परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता पर प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता। सदाचार के मूल्यों के अस्तित्व की स्वीकृति में ही उनकी परिवर्तनशीलता का कोई अर्थ हो सकता है, उनके नकारने में नहीं है।

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज भी सदाचार के किसी मानदण्ड का सृजक नहीं है। अक्सर यह कहा जाता है कि सदाचार या दुराचार की धारणा समाज-सापेक्ष है। एक उर्दू के शायर ने कहा है—

बजा कहे आलम उसे बजा समझो
जबानए खल्क को नक्कारए खुदा समझो।

अर्थात् जिसे समाज उचित कहता है उसे उचित और जिसे अनुचित कहता है उसे अनुचित मानो क्योंकि समाज की आवाज ईश्वर की आवाज है। सामान्यतया सामाजिक मानदण्डों को सदाचार का मानदण्ड मान लिया जाता है किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह बात प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती है। समाज किन्हीं आचरण के प्रारूपों को विहित या अविहित मान सकता है किन्तु सामाजिक विहितता और अविहितता नैतिक औचित्य या अनौचित्य से भिन्न है। एक कर्म अनैतिक होते हुए भी विहित माना जा सकता है अथवा नैतिक होते हुए भी अविहित माना जा सकता है। कंजर जाति में चोरी, आदिम कबीलों में नरबलि या मुस्लिम समाज में बहु-पत्नी प्रथा विहित है। राजपूतों में लड़की को जन्मते ही मार डालना कभी विहित रहा था। अनेक देशों में वेश्यावृत्ति, सम-लैंगिकता मद्यपान आज भी विहित और वैधानिक है—किन्तु क्या इन्हें नैतिक कहा जा सकता है। क्या आचार के ये रूप सदाचार की कोटि में जा सकते हैं? नग्नता को, शासनतन्त्र की आलोचना को अविहित एवं अवैधानिक माना जा सकता है, किन्तु इससे नग्न रहना या शासक वर्ग के गलत कार्यों की आलोचना करना अनैतिक नहीं कहा जा सकेगा। मानवों के समुदाय विशेष के द्वारा किसी कर्म को विहित या वैधानिक मान लेने मात्र से वह सदाचार की कोटि में नहीं आ जाता। गर्भपात वैधानिक हो सकता है लेकिन नैतिक कभी नहीं। नैतिक मूल्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वत्ता निष्पक्ष विवेक के प्रकाश में आलोकित होती है। वह सामाजिक विहितता या वैधानिकता से भिन्न है। समाज किसी कर्म को विहित या अविहित बना सकता है, किन्तु उचित या अनुचित नहीं।

यद्यपि सदाचार के मानदण्डों में परिवर्तन होता है किन्तु उनकी परिवर्तनशीलता फैशनों की परिवर्तनशीलता के समान भी नहीं है, क्योंकि नैतिक मूल्य या सदाचार के मानदण्ड मात्र रुचि सापेक्ष न होकर स्वयं रुचियों के सृजक भी हैं। अतः जिस प्रकार रुचियाँ या तद्जनित फैशन बदलते हैं वैसे ही सदाचार के मानदण्ड नहीं बदलते हैं। यह सही है कि उनमें देश, काल एवं परिस्थितियों के आधार पर कुछ परिवर्तन होता है किन्तु फिर भी उनमें एक स्थायी तत्त्व होता है। अहिंसा, न्याय, आत्म-त्याग, संयम आदि अनेक नैतिक मूल्य या सदाचार के प्रत्यय ऐसे हैं, जिनकी मूल्यवत्ता सभी देशों एवं कालों में समान रूप से स्वीकृत रही है। यद्यपि इनमें अपवाद माने गये हैं, किन्तु अपवाद की स्वीकृति इनकी मूल्यवत्ता का निषेध नहीं होकर, वैयक्तिक असमर्थता अथवा परिस्थिति विशेष में उनकी सिद्धि की विवशता की ही सूचक है। अपवाद, अपवाद है, वह मूल नियम की निषेध नहीं है। जैन-दर्शन उत्सर्ग मार्ग और अपवाद-मार्ग का विधान करता है उसमें उत्सर्ग मार्ग का शाश्वत और अपवाद मार्ग को परिवर्तनशील मानता है। इस प्रकार कुछ नैतिक मूल्य या सदाचार की धारणाएँ अवश्य ही ऐसी हैं जो सार्वभौम और अपरिवर्तनीय हैं। प्रथमतः सदाचार की धारणाओं में बहुत ही कम परिवर्तन होता है और यदि होता भी है तो कहीं अधिक स्थायित्व लिए हुए होता है। फैशन एक दशाब्दी से दूसरी दशाब्दी में ही नहीं, अपितु दिन-प्रतिदिन बदलते रहते हैं, किन्तु नैतिक मूल्य या सदाचार सम्बन्धी धारणाएँ इस प्रकार नहीं बदलती हैं। ग्रीक नैतिक मूल्यों का ईसाइयत के द्वारा तथा भारतीय वैदिक युग के मूल्यों का औपनिषदिक एवं जैन-बौद्ध संस्कृतियों के द्वारा आंशिक रूप से मूल्यान्तरण अवश्य हुआ है किन्तु श्रमण संस्कृति तथा जैन धर्म के द्वारा स्वीकृत मूल्यों का इन दो हजार वर्षों में भी मूल्यान्तरण नहीं हो सका है। इन्होंने सदाचार या दुराचार के जो मानदण्ड स्थिर किये थे वे आज भी स्वीकृत हैं। आज आमूल परिवर्तन के नाम पर उनके उखाड़ फेंकने की जो बात कही जा रही है, वह भ्रान्तिजनक ही है। मूल्य विश्व में आमूल परिवर्तन या निरपेक्ष परिवर्तन सम्भव ही नहीं होता है नैतिक मूल्यों या सदाचार की धारणाओं के सन्दर्भ में जिस प्रकार का परिवर्तन होता है वह एक सापेक्ष और सीमित प्रकार का परिवर्तन है। इसमें दो प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित होते हैं—परिवर्तन का एक रूप वह होता है, जिसमें कोई नैतिक मूल्य विवेक के विकास के साथ व्यापक अर्थ ग्रहण करता जाता है तथा उसके पुराने अर्थ अनैतिक और नये अर्थ नैतिक माने जाने लगते हैं, जैसा कि अहिंसा और परार्थ के प्रत्ययों के साथ हुआ है। एक समय में इन प्रत्ययों का अर्थ विस्तार परिजनों, स्वजातियों एवं स्वधर्मियों तक सीमित था। आज वह राष्ट्रीयता या स्वराष्ट्र तक विकसित होता हुआ सम्पूर्ण मानव जाति एवं प्राणी जगत तक अपना विस्तार पा रहा है। आत्मीय परिजनों, जाति बन्धुओं एवं साधर्मी बन्धुओं का हित साधन करना किसी युग में नैतिक माना जाता था किन्तु आज हम उसे भाई-भतीजावाद, जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद कहकर अनैतिक मानते हैं। आज राष्ट्रीय हित साधन नैतिक माना जाता है, किन्तु आने वाले कल में यह भी अनैतिक माना जा सकता है। यही बात अहिंसा के प्रत्यय के साथ भी घटित हुई है, आदिम कबीलों में परिजनों की हिंसा ही हिंसा मानी जाती थी, आगे चलकर मनुष्य की हिंसा को हिंसा माना जाने लगा, वैदिक धर्म एवं यहूदी धर्म ही नहीं, ईसाई धर्म भी, अहिंसा के प्रत्यय को मानव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाति से अधिक अर्थ-विस्तार नहीं दे पाया, किन्तु वैष्णव परम्परा में अहिंसा का प्रत्यय प्राणी जगत तक और जैन-परम्परा में वनस्पति जगत तक अपना अर्थ-विस्तार पा गया। इस प्रकार नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक अर्थ उनके अर्थों को विस्तार या संकोच देना भी है। इसमें मूलभूत प्रत्यय की मूल्यवत्ता बनी रहती है, केवल उसके अर्थ विस्तार या संकोच ग्रहण करते जाते हैं। नरबलि, पशुबलि या विधर्मी की हत्या हिंसा है या नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर लोगों के विचारों की भिन्नता से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु इससे अहिंसा की मूल्यवत्ता अप्रभावित है। दण्ड के सिद्धान्त और दण्ड के नियम बदल सकते हैं, किन्तु इससे न्याय की मूल्यवत्ता समाप्त नहीं होती है। यौन नैतिकता के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार का अर्थ-विस्तार या अर्थ-संकोच हुआ है। इसकी एक अति यह रही है कि एक ओर पर-पुरुष का दर्शन भी पाप माना गया तो दूसरी ओर स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों को भी विहित माना गया। किन्तु इन दोनों अतियों के बावजूद भी पति-पत्नी सम्बन्ध में प्रेम, निष्ठा एवं त्याग के तत्त्वों की अनिवार्यता सर्वमान्य रही तथा संयम एवं ब्रह्मचर्य की मूल्यवत्ता पर कोई प्रश्न चिह्न नहीं लगाया गया।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक रूप वह होता है, जिसमें किसी मूल्य की मूल्यवत्ता को अस्वीकार नहीं किया जाता, किन्तु उनका पदक्रम बदलता रहता है अर्थात् मूल्यों का निर्मूल्यीकरण नहीं होता अपितु उनका स्थान संक्रमण होता है। किसी युग में जो नैतिक गुण प्रमुख माने जाते रहे हों, वे दूसरे युग में गौण हो सकते हैं और जो मूल्य गौण थे, वे प्रमुख हो सकते हैं। उच्च मूल्य निम्न स्थान पर तथा निम्न मूल्य उच्च स्थान पर या साध्य मूल्य साधन स्थान पर तथा साधन मूल्य साध्य स्थान पर आ-जा सकते हैं। कभी न्याय का मूल्य प्रमुख और अहिंसा का मूल्य गौण था—न्याय की स्थापना के लिए हिंसा को विहित माना जाता था—किन्तु जब अहिंसा का प्रत्यय प्रमुख बन गया तो अन्याय को सहन करना भी विहित माने जाने लगा। ग्रीक मूल्यों के स्थान पर ईसाइयत के मूल्यों की स्थापना में ऐसा ही परिवर्तन हुआ है। आज साम्यवादी-दर्शन सामाजिक न्याय के हेतु खूनी क्रान्ति की उपादेयता की स्वीकृति के द्वारा पुनः अहिंसा के स्थान पर न्याय को ही प्रमुख मूल्य के पद पर स्थापित करना चाहता है। किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं है कि ग्रीक सभ्यता में या साम्यवादी-दर्शन में अहिंसा पूर्णतया निर्मूल्य है या ईसाइयत में न्याय का कोई स्थान ही नहीं है। मात्र होता यह है कि युग की परिस्थिति के अनुरूप मूल्य-विश्व के कुछ मूल्य उभरकर प्रमुख बन जाते हैं और दूसरे उनके परिपार्श्व में चले जाते हैं। मात्र इतना ही नहीं, कभी-कभी बाहर से परस्पर विरोध में स्थित दो मूल्य वस्तुतः विरोधी नहीं होते हैं—जैसे न्याय और अहिंसा। कभी-कभी न्याय की स्थापना के लिए हिंसा का सहारा लिया जाता है; किन्तु इससे मूलतः वे परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि अन्याय भी तो हिंसा ही है। साम्यवाद और प्रजातन्त्र के राजनैतिक-दर्शनों का विरोध मूल्य-विरोध नहीं, मूल्यों की प्रधानता का विरोध है। साम्यवाद के लिए रोटी और सामाजिक न्याय प्रधान मूल्य है और स्वतन्त्रता गौण मूल्य है, जबकि प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता प्रधान मूल्य है और रोटी गौण मूल्य है। आज स्वच्छन्द यौनाचार का समर्थन भी संयम के स्थान पर स्वतन्त्रता (अतन्त्रता) को ही प्रधान मूल्य मानने के एक अतिवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। सुखवाद और बुद्धिवाद का मूल्य-विवाद भी ऐसा ही है, न तो सुखवाद बुद्धितत्त्व को निर्मूल्य मानता है और न बुद्धिवाद सुख को निर्मूल्य मानता है। मात्र इतना ही है कि सुखवाद में सुख प्रधान मूल्य है और बुद्धि गौण मूल्य है जबकि बुद्धिवाद में विवेक प्रधान मूल्य है और सुख गौण मूल्य है। इस प्रकार मूल्य-परिवर्तन का अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके तारतम्य में परिवर्तन है, जो कि एक प्रकार का सापेक्षिक परिवर्तन ही है । कभी-कभी मूल्य विपर्यय को ही मूल्य परिवर्तन मानने की भूल की जाती है, किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि मूल्य विपर्यय मूल्य परिवर्तन नहीं है । मूल्य विपर्यय में हम अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं को, जो कि वास्तव में मूल्य है ही नहीं, मूल्य मान लेते हैं—जैसे स्वच्छन्द यौनाचार को नैतिक मान लेना । दूसरे यदि 'काम' की मूल्यवत्ता के नाम पर कामुकता तथा रोटी की मूल्यवत्ता के नाम पर स्वाद-लोलुपता या पेटूपन का समर्थन किया जावे, तो यह मूल्य परिवर्तन नहीं होगा, मूल्य विपर्यय या मूल्याभास ही होगा, क्योंकि 'काम' या 'रोटी' मूल्य हो सकते हैं किन्तु 'कामुकता' या 'स्वाद लोलुपता' किसी भी स्थिति में नैतिक मूल्य नहीं हो सकते हैं । इसी सन्दर्भ में हमें एक तीसरे प्रकार का मूल्य परिवर्तन परिलक्षित होता है जिसमें मूल्य-विश्व के ही कुछ मूल्य अपनी आनुषंगिकता के कारण नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं । और कभी-कभी तो नैतिक जगत के प्रमुख मूल्य या नियामक मूल्य बन जाते हैं, अर्थ और काम ऐसे ही मूल्य हैं जो स्वरूपतः नैतिक मूल्य नहीं हैं फिर भी नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित होकर उनका नियमन और क्रम निर्धारण भी करते हैं । यह सम्भव है कि जो एक परिस्थिति में प्रधान मूल्य हो, वह दूसरी परिस्थिति में प्रधान मूल्य न हो, किन्तु इससे उनकी मूल्यवत्ता समाप्त नहीं होती है । परिस्थितिजन्य मूल्य या सापेक्ष मूल्य दूसरे मूल्यों के निषेधक नहीं होते हैं । दो परस्पर विरोधी मूल्य भी अपनी-अपनी परिस्थिति में अपनी मूल्यवत्ता को बनाए रख सकते हैं । एक दृष्टि से जो मूल्य लगता है वह दूसरी दृष्टि से निर्मूल्य हो सकता है, किन्तु अपनी दृष्टि या अपेक्षा से तो वह मूल्यवान बना रहता है । यह बात परिस्थितिक मूल्यों के सम्बन्ध में ही अधिक सत्य लगती है ।

जैन नैतिकता का अपरिवर्तनशील या निरपेक्ष पक्ष

हमने जैनदर्शन में नैतिकता के सापेक्ष पक्ष पर विचार किया लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जैन-दर्शन में नैतिकता का केवल सापेक्ष पक्ष ही स्वीकार किया गया है । जैन विचारक कहते हैं कि नैतिकता का एक-दूसरा पहलू भी है जिसे हम निरपेक्ष कह सकते हैं । जैन तीर्थंकरों का उद्घोष था कि "धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है ।" यदि नैतिकता में कोई निरपेक्ष एवं शाश्वत तत्त्व नहीं है तो फिर धर्म की नित्यता और शाश्वतता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है । जैन नैतिकता यह स्वीकार करती है कि भूत, वर्तमान, भविष्य के सभी धर्म-प्रवर्तकों (तीर्थंकरों) की धर्म प्रज्ञप्ति एक ही होती है लेकिन इसके साथ-साथ वह यह भी स्वीकार करती है सभी तीर्थंकरों की धर्म प्रज्ञप्ति एक होने पर भी तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में ऊपर से विभिन्नता मालूम हो सकती है, जैसी महावीर और पार्श्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में थी । जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि नैतिक आचरण के आन्तर और बाह्य ऐसे दो पक्ष होते हैं जिन्हें पारिभाषिक शब्दों में द्रव्य और भाव कहा जाता है । जैन विचारणा के अनुसार आचरण का वह बाह्य पक्ष देश एवं कालगत परिवर्तनों के आधार पर परिवर्तनशील होता है, सापेक्ष होता है । जबकि आचरण का आन्तर पक्ष सदैव-सदैव एकरूप होता है, अपरिवर्तनशील होता है, दूसरे शब्दों में निरपेक्ष होता है । वैचारिक या भाव-हिंसा सदैव-सदैव अनैतिक होती है, कभी भी धर्ममार्ग अथवा नैतिक जीवन का नियम नहीं कहला सकती, लेकिन द्रव्यहिंसा या बाह्यरूप में परिलक्षित होने वाली हिंसा सदैव ही अनैतिक अथवा अनाचरणीय ही हो ऐसा नहीं कहा जा सकता । आन्तर परिग्रह अर्थात् तृष्णा या आसक्ति सदैव ही अनैतिक है लेकिन द्रव्य परिग्रह सदैव ही अनैतिक नहीं कहा जा सकता । संक्षेप में जैन विचारणा के अनुसार आचरण के बाह्य रूपों में नैतिकता सापेक्ष ही हो सकती है और होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है लेकिन आचरण के आन्तर रूपों या भावों या संकल्पों के रूप में वह सदैव निरपेक्ष ही है। सम्भव है कि बाह्य रूप में अशुभ दिखने वाला कोई कर्म अपने अन्तर् में निहित किसी सदाशयता के कारण शुभ हो जाय लेकिन अन्तर् का अशुभ संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता।

जैन दृष्टि में नैतिकता अपने हेतु या संकल्प की दृष्टि से निरपेक्ष होती है। लेकिन परिणाम अथवा बाह्य आचरण की दृष्टि से सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में नैतिक संकल्प निरपेक्ष होता है लेकिन नैतिक कर्म सापेक्ष होता है। इसी कथन को जैन पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यवहारनय (व्यवहारदृष्टि) से नैतिकता सापेक्ष है या व्यावहारिक नैतिकता सापेक्ष है लेकिन निश्चयनय (पारमार्थिक दृष्टि) से नैतिकता निरपेक्ष है या निश्चय नैतिकता निरपेक्ष है। जैन दृष्टि में व्यावहारिक नैतिकता वह है जो कर्म के परिणाम या फल पर दृष्टि रखती है जबकि निश्चय नैतिकता वह है जो कर्त्ता के प्रयोजन या संकल्प पर दृष्टि रखती है। युद्ध का संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता; लेकिन युद्ध का कर्म सदैव ही अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं। आत्महत्या का संकल्प सदैव ही अनैतिक होता है, लेकिन आत्महत्या का कर्म सदैव ही अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं है, वरन् कभी-कभी तो वह नैतिक ही हो जाता है, जैसे—चन्दना की माता के द्वारा की गई आत्महत्या या चेडा महाराज के द्वारा किया गया युद्ध।

जैन नैतिक विचारणा में नैतिकता को निरपेक्ष तो माना गया लेकिन केवल संकल्प के क्षेत्र तक। जैन-दर्शन 'मानस कर्म' के क्षेत्र में नैतिकता को विशुद्ध रूप में निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनशील स्वीकार करता है; लेकिन जहाँ कायिक या वाचिक कर्मों के बाह्य आचरण का क्षेत्र आता है, वह उसे सापेक्ष स्वीकार करता है। वस्तुतः विचारणा का क्षेत्र, मानस का क्षेत्र आत्मा का अपना क्षेत्र है वहाँ वही सर्वोच्च शासक है अतः वहाँ तो नैतिकता को निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया जा सकता है लेकिन आचरण के क्षेत्र में चेतन तत्त्व एकमात्र शासक नहीं, वहाँ तो अन्य परिस्थितियाँ भी शासन करती हैं. अतः उस क्षेत्र में नैतिकता के प्रत्यय को निरपेक्ष नहीं बनाया जा सकता।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता एवं अपरिवर्तनशीलता का मूल्यांकन

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में हमें जॉन ड्यूई का दृष्टिकोण अधिक संगतिपूर्ण जान पड़ता है। वे यह मानते हैं कि वे परिस्थितियाँ, जिनमें नैतिक आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव ही परिवर्तनशील हैं और नैतिक नियमों, नैतिक कर्तव्यों और नैतिक मूल्यांकनों के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है, किन्तु यह मान लेना मूर्खतापूर्ण ही होगा कि नैतिक सिद्धान्त इतने परिवर्तनशील हैं कि किसी सामाजिक स्थिति में उनमें कोई नियामक शक्ति ही नहीं होती है। शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है किन्तु शुभ का आकार नहीं। दूसरे शब्दों में, नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील है किन्तु नैतिकता की आत्मा नहीं। नैतिक मूल्यों का विशेष स्वरूप समय-समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है, जैसे-जैसे सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर और परिस्थिति बदलती रहती है; किन्तु मूल्यों की नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है।

वस्तुतः नैतिक मूल्यों की वास्तविक प्रकृति में परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता के दोनों ही पक्ष उपस्थित हैं। नीति का कौन-सा पक्ष परिवर्तनशील होता है और कौन-सा पक्ष अपरिवर्तनशील होता है, इसे निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है—

१. संकल्प का नैतिक मूल्य अपरिवर्तनशील होता है और आचरण का नैतिक मूल्य परि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तनशील होता है। हिंसा का संकल्प कभी नैतिक नहीं होता; यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं। दूसरे शब्दों में, कर्म का जो मानसिक या बौद्धिक पक्ष है वह निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय है, किन्तु कर्म का जो व्यावहारिक एवं आचरणात्मक पक्ष है, वह सापेक्ष एवं परिवर्तनशील है। दूसरे शब्दों में, नीति की आत्मा अपरिवर्तनशील है और नीति का शरीर परिवर्तनशील है। संकल्प का क्षेत्र प्रज्ञा का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ चेतना ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है, वहाँ परिस्थितियों या समाज का शासन नहीं है, अतः इस क्षेत्र में नैतिक मूल्यों की निरपेक्षता एवं अपरिवर्तनशीलता सम्भव है। निष्काम कर्म-योग का दर्शन इसी सिद्धान्त पर स्थित है, क्योंकि अनेक स्थितियों में कर्म का बाह्यात्मक रूप कर्त्ता के मनोभावों का यथार्थ परिचायक नहीं होता। अतः यह माना जा सकता है कि वे मूल्य जो मनोवृत्त्यात्मक या भावनात्मक नीति से सम्बन्धित हैं, अपरिवर्तनीय हैं किन्तु वे मूल्य जो आचरणात्मक या व्यवहारात्मक हैं, परिवर्तनीय हैं।

२. दूसरे, नैतिक साध्य या नैतिक आदर्श अपरिवर्तनशील होता है किन्तु उस साध्य के साधन परिवर्तनशील होते हैं। जो सर्वोच्च शुभ हैं वह अपरिवर्तनीय हैं, किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं वे विविध एवं परिवर्तनीय हैं, क्योंकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि सर्वोच्च शुभ को छोड़कर कुछ अन्य साध्य कभी साधन भी बन जाते हैं। साध्य साधन का वर्गीकरण निरपेक्ष नहीं है, उनमें परिवर्तन सम्भव है। यद्यपि जब तक कोई मूल्य साध्य स्थान पर बना रहता है, तब तक उसकी मूल्यवत्ता अपरिवर्तनीय रहती है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि किसी स्थिति में जो साध्य-मूल्य है, वह कभी साधन-मूल्य नहीं बनेगा। मूल्य-विश्व के अनेक मूल्य ऐसे हैं जो कभी साधन-मूल्य होते हैं और कभी साध्य-मूल्य। अतः उनकी मूल्यवत्ता अपने स्थान परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो सकती है। पुनः वैयक्तिक रुचियों, क्षमताओं और स्थितियों की भिन्नता के आधार पर सभी के लिए समान नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अतः साधन-मूल्यों को परिवर्तनीय मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है।

३. तीसरे, नैतिक नियमों में कुछ नियम मौलिक होते हैं। साधारणतया सामान्य या मूलभूत नियम ही अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम तो परिवर्तनीय होते हैं। यद्यपि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि अनेक परिस्थितियों में सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी इतना तो ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी भी नियम का स्थान नहीं दिया जा सकता है।

यहाँ एक बात जो विचारणीय है वह यह कि मौलिक नियमों एवं साध्य-मूल्यों की अपरिवर्तनशीलता भी एकांतिक नहीं है। वस्तुतः जैन-दर्शन में नैतिक मूल्यों या सदाचार के मानदण्डों के सन्दर्भ में एकान्तरूप से अपरिवर्तनशीलता और एकान्तरूप से परिवर्तनशीलता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि नैतिक मूल्य या सदाचार के मानदण्ड एकान्तरूप से परिवर्तनशील होंगे तो उनकी कोई नियामकता ही नहीं रह जावेगी। इसी प्रकार वे यदि एकान्त रूप से अपरिवर्तनशील होंगे तो सामाजिक सन्दर्भों के अनुरूप नहीं रह सकेंगे। सदाचार के मानदण्ड इतने निर्लोच तो नहीं हैं कि वे परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों के साथ समायोजन नहीं कर सकें, किन्तु वे इतने लचीले भी नहीं हैं कि हर कोई उन्हें अपने अनुरूप ढाल कर उनके स्वरूप को ही विकृत कर दे। सारांश यह है कि सदाचार के मानदण्ड अन्तरंग रूप से स्थायी हैं और बाह्य रूप में परिवर्तनशील हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org